मेरे साक्षात्कार

रमणिका गुप्ता

मेरे साक्षात्कार

रमणिका गुप्ता

मेरे साक्षात्कार सीरीज़

मेरे साक्षात्कार

रमणिका गुप्ता

संकलन

मजीद अहमद

कुछ बातें

इस पुस्तक में समय-समय पर दिए मेरे कुल पंद्रह साक्षात्कार संकलित हैं, जो महज़ स्त्री, दलित, आदिवासी, साहित्य, समाज और संस्कृति पर मेरी चिंतन-प्रक्रिया को ही नहीं रेखांकित करते हैं, बल्कि इनमें मेरे जन्म, बचपन और पारिवारिक पृष्ठभूमि की कई परतें भी जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे उद्घाटित हुई हैं।

इन साक्षात्कारों में समकालीन विमर्शों के कुछ ऐसे कोण मौजूद हैं, जो मेरी कहानियों, कविताओं, आलेखों और संपादकीयों में नहीं आ पाए। यह कहना मौजूँ होगा कि—'सारे फ़साने में जिनका ज़िक्र न था—कुछ वे बातें भी इनमें हैं।'

साक्षात्कार इस मामले में महत्त्वपूर्ण होते हैं कि सृजन की प्रक्रिया का संबंध जहाँ सिर्फ़ लेखक से होता है या कहें नितांत निजी होता है, वहीं साक्षात्कार में एक साझा रचना-प्रक्रिया चलती है, जहाँ कई बार साक्षात्कारकर्ता की भूमिका साक्षात्कार देने वाले से ज़्यादा अहम होती है।

कहा जाता है कि एक अच्छे साक्षात्कारकर्ता की ख़ूबी यह होती है कि वह साक्षात्कार देने वाले को कुरेदकर, झकझोरकर व प्रेरित कर उसके चेतन-अवचेतन में क़ैद वे बातें निकाल ले, जो अब तक किसी संकोच या झिझक से उसने कही न हों या लिखते वक़्त उन अनुभवों के लिए वह उपयुक्त अभिव्यक्ति न तलाश पाया हो—विमर्श और स्मृति के उस धरातल को सामने ला दे, जो अब तक अनदेखा, अनछुआ हो।

अच्छा साक्षात्कारकर्ता साक्षात्कार देने वाले के मानसपटल को समृद्ध ही नहीं करता, बल्कि उससे चिंतन-प्रक्रिया में प्रश्नों के ज़रिए नए आयाम व कोण भी जोड़ता है।

दूसरी बात यह है कि लिखते हुए हमारे पास चिंतन करने और वाक्य-विन्यास गढ़ने के लिए समय और स्पेस दोनों पर्याप्त होता है, जबकि साक्षात्कार देते वक़्त न वाक्य-विन्यास गढ़ने का समय होता है और न ही वह लेखकीय सजगता—कि हर सवाल के बाद घंटों विचार और वाक्य की तोल-मोल की जाए, मगर तात्कालिकता का यह दबाव हमसे कई बार बहुत अहम बातें भी कहलवा ले जाता है; 'अनुद्घाटित'

को 'उद्घाटित' करा देता है। हाँ, हमारे अंतर्मन का खुलना इस अनुद्घाटित का उद्घाटित होना अकसर साक्षात्कारकर्ता के कौशल पर निर्भर करता है।

इस पुस्तक में संकलित जयन्त परमार, मधु वासुदेवन, शकील, सूरज बड़त्या, कमर मेवाड़ी, सुधा और कुसुम विद्यार्थी ऐसे ही साक्षात्कारकर्ता हैं, जिन्होंने मेरा मन खोला है। कई ऐसी बातें हैं, जिनके छपने के बाद पढ़ने पर मुझे लगा—'अरे ! क्या यह मैंने कहा था ?'

अपने इस कौशल के लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। मजीद अहमद को भी हार्दिक आभार। वे इन साक्षात्कारों को संकलित करने में उत्साह न दिखाते तो आज यह पुस्तक इस रूप में सामने नहीं आ पाती।

—रमणिका गुप्ता

अनुक्रम

दलित लेखिकाएँ स्त्री-मुक्ति के सवाल पर मुखर नहीं 9
मजीद अहमद से बातचीत

दलितों की समस्या आर्थिक नहीं, सामाजिक है 25
शगुफ़्ता नियाज़ से बातचीत

दलित जाति नहीं, जमात बने 35
सूरज बड़त्या और वीणा शर्मा से बातचीत

दलित-साहित्य को अवतारवाद के ख़तरे हैं 50
श्यौराज सिंह 'बेचैन' से बातचीत

मेरी लड़ाई हमेशा ग़ैर-बराबरी से रही है 61
मधु वासुदेवन से बातचीत

भारत में वर्ग और वर्ण की लड़ाई एक-दूसरे की पूरक है 79
प्रो० बलदेव पाण्डे से बातचीत

भोगे हुए यथार्थ पर लिखा गया साहित्य ही दलित-साहित्य है 84
जयन्त परमार से बातचीत

आत्मनिर्भरता : अभी भी दलित स्त्री का सपना 102
राजेश कुमार से बातचीत

मैं साहित्य की जनपक्षधरता में विश्वास रखती हूँ 108
ओमप्रकाश शर्मा 'कृत्यांश' से बातचीत

स्त्री-मुक्ति की मुहिम को पुरुष-समर्थन की दरकार है 116
कमर मेवाड़ी से बातचीत

127 आत्मकथाओं में शर्म की परतें खुलती हैं
हरेप्रकाश उपाध्याय से बातचीत

134 जो औरत अपने बल पर खड़ी हो सकती है उसे पुरुष बख्शता नहीं है
शकील से बातचीत

144 स्त्री और दलित अपनी लड़ाई खुद लड़ें
कुसुम विद्यार्थी से बातचीत

152 स्त्रियों की यौन-शुचिता के मूल्यांकन की विरोधी हूँ
पंकज चौधरी से बातचीत

156 कविता में स्त्री समय को देती है शब्द
सुधा और ज्योति से बातचीत

दलित लेखिकाएँ स्त्री-मुक्ति के सवाल पर मुखर नहीं

मजीद अहमद से बातचीत

ग़ैर-दलितों द्वारा दलितों के मुद्दे पर लिखे गये साहित्य को 'दलित-लेखन' के अन्तर्गत रखने में कतिपय दलित-चिन्तकों को आपत्ति है। प्रेमचन्द, निराला, नागार्जुन, राहुल सांकृत्यायन आदि के साहित्य के मद्देनज़र इस सम्बन्ध में आप क्या सोचती हैं?

यह आपत्ति सही है। चूँकि इन लेखकों ने जब कहीं दलित या अछूत पर चर्चा की है तो वह एक सामाजिक कुरीति के नाते ही, न कि दलित-चेतना या सोच के अन्तर्गत। ऐसे भी विश्व में सोच के केन्द्र में मनुष्य आ चुका था और ईश्वर का भ्रम टूट गया था। अपने यहाँ काफ़ी हद तक बौद्ध-काल में और उसके बाद भक्ति-काल में मनुष्य की छिटपुट चर्चा शुरू हुई। पश्चिमी देशों में औद्योगिक युग और फ्रांस की क्रांति के बाद मनुष्य केन्द्र में आया। पश्चिम में मनुष्य के केन्द्र में आते ही स्त्री और नीग्रो का सवाल उठा और प्रगतिशील व जनवादी ताक़तों ने वर्गीय आधार पर वंचितों के सवाल उठाये। लिंग-भेद और रंग-भेद के आधार पर (वर्ग से हटकर) भी काफ़ी ज़ोर-शोर से सवाल उठे। उसी के समकक्ष भारत में दलितों का सवाल जातीय आधार पर डॉ० अम्बेडकर ने उठाया। गाँधी ने 'हरिजन' के शोषण की ख़िलाफ़त की, लेकिन जातीय व्यवस्था को तोड़ने की बात नहीं की। उन्होंने बाक़ी जातियों को, अपना मल-मूत्र उठाने की तो बात की, लेकिन हरिजनों को अपना घृणित पेशा छोड़कर कोई और सम्मानजनक पेशा अपनाने की सलाह कभी नहीं दी। सम्भवतः उनकी नज़र में यह काम गन्दा ही न था। हमारे साहित्यकार, जिन्होंने इन तबकों के बारे में साहित्य लिखा, वे इस छुआछूत की प्रवृत्ति या पेशे को सही तो नहीं मानते थे, लेकिन हरिजनपन से निजात दिलाने के विकल्प या मुहिम पर उनकी कल्पना ने कभी ऊँची उड़ान नहीं भरी। प्रेमचन्द ने भी ब्राह्मण के मुँह में हड्डी घुसेड़कर उसे चमार तो बना लिया, लेकिन किसी चमार या अन्य दलित को जन्मजात जाति और पेशे की केंचुल उतारकर किसी का विकास उच्च जातीय तबके में नहीं किया। 'रंगभूमि' का नायक विनय विदेश जाकर बड़ा कलाकार बनकर लौटता है। समाज उसे नहीं पहचानता, लेकिन नायिका उसे पहचान लेती है। वह उसकी पहचान

छिपाकर रखती है क्योंकि वह जानती है कि उसके द्वारा की गयी स्वीकृति भी समाज को मान्य नहीं होगी, यानी प्रेमचन्द का नायक अपने देश में न तो समाज से अपनी सही पहचान के साथ स्वीकृति पा सका और न ही नायिका को इतनी हिम्मत दे सका कि वह हिम्मत कर समाज से सच को स्वीकार कराए।

जहाँ तक राहुल सांकृत्यायन का सवाल है तो वे प्रगतिवादी और जनवादी सोच के साहित्यकार थे। नागार्जुन प्रेमचन्द और राहुल के बाद की पीढ़ी के हैं, तब जब अम्बेडकर की सोच लोगों के मन में घर करने लगी थी। 'बलचनमा' में नागार्जुन ने सवाल उठाया है, पर सोच जनवादी है, अम्बेडकरवादी नहीं। अम्बेडकरवादी सोच से मेरा अभिप्राय है कि दलितों में यह चेतना जगाना कि वे मनुष्य हैं और जन्म के आधार पर उनसे जो अधिकार छीन लिये गये हैं, वह एक षड्यन्त्र था उन्हें गुलाम बनाने का, जिससे उन्हें मुक्त होना है। अपने ऊपर लादे गये जन्मना जाति के जुए को उतार फेंकना है। उन्हें 'हरिजन' से 'दलित' बनना है।

यहाँ जानबूझकर मैंने 'पेशा' शब्द का इस्तेमाल नहीं किया क्योंकि झाड़ू तो ब्राह्मण भी दे देता है और उसे 'पंचम' नहीं कहा जाता, न उसे अछूत माना जाता है, इसलिए बहुत सोच-समझकर स्थायी सेवक या गुलाम रखने के लिए मनु ने कुछ जातियों को ही गुलाम घोषित कर दिया। वैसे भी ग़ैर-दलित प्रायः अपने अनुभव के आधार पर नहीं, दूसरे के भोगे हुए सच को लिखते हैं।

अब जब दलित लिखने लगे हैं तो सभी ग़ैर-दलित साहित्यकार जो दलित-लेखन को जातीय साहित्य कहकर निन्दा करते थे, क्यों होड़ लगा रहे हैं—दलित लेखक के रूप में अपना नाम दर्ज कराने के लिए ? उनके साहित्य का अपना महत्त्व है। वे सहानुभूति से लिख रहे हैं, लिखें। किसी को इसमें आपत्ति नहीं है, पर वे दलित लेखकों को अपना काम करने दें।

क्या आपको लगता है कि दलित-लेखन मुख्यतः आत्मकथा-विधा पर टिका है, जबकि डायरी, रिपोर्ताज़ सिरे से ग़ायब हैं?

यह सही है कि आत्मकथा-लेखन ने राष्ट्र-स्तर पर दलित साहित्यकारों व पाठकों को स्तब्ध कर दिया क्योंकि सच कहने की हिम्मत या सच स्वीकारने की हिम्मत, हिन्दी पट्टी में किसी साहित्यकार को हुई ही नहीं थी (गाँधी को छोड़कर जो राजनेता थे, साहित्यकार नहीं)। यह कहना सच नहीं कि दलित-लेखन आत्मकथा विधा पर ही टिका है। कविता, कहानी और उपन्यास की विधा में काफ़ी लिखा गया है और लिखा जा रहा है। भले ही यह लेखन हिन्दी पट्टी में देर से शुरू हुआ, पर वह अब यहाँ परवान चढ़ रहा है। दलित लेखकों ने फिक्शन के अतिरिक्त दलित-विमर्श पर भी खूब लिखा है।